आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताएँ

☐ डॉ० सुषमा सिंघवी

श्रमण संस्कृति के अमर गायक आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज के जीवन जीने की कला ही उनकी दार्शनिक मान्यताओं का प्रतिबिम्ब थी। इतिहास के मर्मज्ञ आचार्य श्री ने इतिवृत्तों के मर्मस्पर्शी दर्शन को जन-जन तक पहुँचा कर चैतन्य उजागर करने का अदभुत् शंखनाद फूंका। सूक्ष्म-व्यवहित और विप्रकृष्ट का साक्षात्कार कराने हेतु अपनी व्यापक समग्र दृष्टि, निरावृत्त आग्रह शून्य दृष्टि और संयममयी करुणा के सान्निध्य की दृष्टि के निमित्त से आपने जो दर्शन की धारा प्रवाहित की उसमें मज्जन कर जन-जन आह्लादित हुआ; स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण हुआ, आवरण को काटकर स्वाधीन आत्म-दर्शन करने की चेतना जागी और परोक्ष को प्रत्यक्ष करने का पुरुषार्थ जागा।

आचार्य श्री ने बृहस्पति, अक्षपाद, गौतम, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनी और बादरायण महर्षियों की तरह किसी चार्वाक, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त) दर्शन का प्रणयन नहीं किया तथापि श्रमण-परम्परा के वाहक भगवान् बुद्ध और महावीर द्वारा प्ररूपित श्रमण-संस्कृति के मूल दर्शन को जिस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने सींच कर जीवित रखा, उसी क्रम में आचार्य श्री ने ज्ञान की कुदाल से आवरण हटाकर श्रद्धा के जल से सिंचन कर चारित्र की निगरानी में जैन दर्शन के पादप को सुशोभित किया। गुरुदेव के शब्दों में—साधनाबीज सभी तीर्थंकरों में समान होता है। उनका जीवन अलग-अलग होता है परन्तु अलग-अलग प्रकार का नहीं होता।

आचार्य श्री की समस्त दार्शनिक मान्यताएँ जैन दर्शन की दार्शनिक मान्यताएँ हैं। दर्शन कैसे जीवन बन गया, इसका अद्वितीय उदाहरण आचार्य श्री स्वयं हैं। जो दर्शन पुस्तकों में सिमट कर पुस्तकालय की शोभा बढ़ावे वह कैसा दर्शन ? जो दर्शन अपनी मान्यताओं के आग्रह में वाद-विवाद

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

को जन्म दे, वह कैसा दर्शन ? जो दर्शन ज्ञाता के अहंकार को जगाकर अधोगति का कारण बने, वह कैसा दर्शन ? जो दर्शन हिंसा और छल को अवकाश दे, वह कैसा दर्शन ? आचार्य श्री ने उस दर्शन की प्ररूपणा की जो स्वयं के दर्शन करा दे 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम् ।' जीवन इतना निर्मल हो कि जीवन नियन्ता आत्म तत्त्व का दर्शन सहज सुलभ हो जाय, यही तो दार्शनिक जीवन जीने की कला है और इसमें सिद्धहस्त थे हमारे आचार्य प्रवर । इसीलिये आचार्य प्रवर की दार्शनिक मान्यताएँ मिथ्या ज्ञान के आडम्बर बोझ से भारी नहीं हैं, काव्य-कला के परिधानों से सजी नहीं हैं, लवणाम्बुज की अपार निधिवत् केवल सञ्चय-साधन नहीं हैं अपितु निर्मल जिनवाणी की वह सरिता है जिसका अजस्र पान कर मानव-मात्र की जन्म-जन्म की प्यास बुझी है, तापत्रय से शान्ति मिली है, स्वतंत्रता की श्वास सधी है ।

जैन दर्शन के गूढ़ मंतव्यों को व्यवहार और क्रिया की मथनी-डोरी से मथकर जो स्निग्ध नवनीत गुरुदेव ने प्रस्तुत किया, वही **आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताएँ** हैं ।

नव शीर्षकों के अन्तर्गत आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताओं का आकलन करने का प्रयास करूँगी—

(१) विज्ञान अधूरा, जिनवाणी पूर्ण है । (गजेन्द्र व्याख्यान माला भाग ६, पृ० ३४६) ।

(२) प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति है । (प्रार्थना प्रवचन, पृ० २) ।

(३) ज्ञान का प्रकाश अभय बना देता है ।

(४) जो क्रियावान् है वही विद्वान् है । स्वाध्याय से विचार-शुद्धि और सामायिक से आचार-शुद्धि साधना-रथ के दो पहिये हैं ।

(५) आत्मशुद्धि हेतु प्रतिक्रमण नित्य आवश्यक अन्यथा संथारा कल्पना मात्र ।

(६) परिग्रह उपकरण बने, अधिकरण नहीं ।

(७) अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण सम्भव ।

(८) वीतरागता प्राप्त करने के लिये जीवन में पैठी हुई कुटेवों को बदलना आवश्यक । साथ ही अंधविश्वासों से ऊपर उठना भी आवश्यक है । (प्रार्थना प्रवचन, पृ० ७३) ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) धर्म मार्ग की सीख पण्डित को देने से अनुयायी स्वतः परिवर्तित होते हैं। (म० व्या० मा० ६/२७८)।

नवपद आराधन के पुनीत पर्व के उपलक्ष में, अन्याय पर न्याय की विजय के विजयादशमी पर्व के उपलक्ष में, भक्ति और शक्ति के संयोग की घड़ी में आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यताओं की नवविध किरणें हमारे अनन्तकालीन मोहांधकार को विनष्ट कर आत्म-प्रकाश उजागर करें, इसी श्रद्धांजलि के साथ पूज्य आचार्य प्रवर के चरण कमलों में कोटिशः वन्दन।

१. **विज्ञान अधूरा, जिनवाणी पूर्ण है**—वैज्ञानिक की शोध नियंत्रित परिस्थिति में परिस्थितियों को नियंत्रित करने के लिये की जाती है। उनका परीक्षण अनुमान तथा बाह्य उपकरणों पर आधारित होता है। विज्ञान के निष्कर्ष सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं होते। वैज्ञानिक 'पर' के माध्यम से 'पर' की खोज करता है और 'पर' के सुख की व्यवस्था कर अपनी इति स्वीकारता है, उसे आत्मिक-ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। वैज्ञानिक शोध के माध्यम से भौतिक सत्य और तथ्य को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है किन्तु उसकी शोध का परिणाम उपभोक्ता के राग और द्वेष का जामा धारण कर भौतिक उपयोग की बस्तु या भौतिक विनाश का साधन बन जाता है। इसीलिये विज्ञान अधूरा है। वीतराग पदार्थों के सत्य और तथ्य को प्रस्तुत करते हैं किन्तु राग और द्वेष को जीत लेने वाले वीतराग की वाणी में भौतिकता से शून्य आत्म-लाभ के अतिरिक्त सर्वस्व अनुपादेय है। वीतराग ने अपने अनुभव की प्रयोगशाला में शोधित निष्कर्षों को स्याद्वाद के तर्क पुरस्सर वाणी से प्रस्तुत किया। सापेक्ष सत्य और सापेक्ष तथ्य ही वीतरागियों की वाणी की पूर्णता है।

विज्ञान ने एक ओर सर्दी, गर्मी आदि के प्रकोप से होने वाले प्रतिकूल वेदनीय दुःख से निजात दिलाई, दूरी कम करदी, आवागमन आदि के साधन सुलभ करा दिये, औद्योगीकरण, शहरीकरण, भौतिक साम्राज्यीकरण ने जो वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि समस्याएँ दीं, वे मानवमात्र ही नहीं प्राणीमात्र के जीवन को खतरे में डाले हुए हैं। परिस्थिति नियंत्रण का यह प्रतिफल हम भोग रहे हैं।

जिनवाणी ने मनःस्थिति नियंत्रण का शंखनाद फूंका जिससे लोभ और मोह पर विजय कर स्वयं वीतराग पद पाया जा सकता है।

२. **प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति है**—आत्मोपलब्धि की तीव्र अभिलाषा वाले मुमुक्षु, वीतराग को प्रार्थ्य मानकर 'अरिहन्तो मह देवो' के माध्यम से

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्मोह दशा में प्रार्थी अत्यन्त भाव-विभोर हो तादात्म्यता का अनुभव करने लगे, ऐसी प्रार्थना आत्म-शुद्धि की पद्धति है । आंतरिक गुणों को दृष्टि में रखकर प्रार्थनीय (प्रार्थ्य) अरिहन्त, सिद्ध या साधना पथ पर अग्रसर हुए निर्ग्रन्थ महात्मा कोई भी हो सकता है । वह आध्यात्मिक वैभव, जो परमात्मवाद को प्राप्त करता है उसे विकसित करने का साधन प्रार्थना है । वीतराग की प्रार्थना से आत्मा को एक सम्बल मिलता है, शक्ति प्राप्त होती है ।

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि स्तुति-प्रार्थना की परम्परा वैदिक परम्परा का अनुकरण है; जैन दर्शन के अनुसार वीतरागी पुरस्कर्ता या दण्डदाता नहीं है फिर प्रार्थना का क्या प्रयोजन ?; याचना कभी श्रेष्ठ नहीं होती आदि-आदि । आचार्य श्री ने एक-एक प्रश्न उठा कर उनका समाधान प्रस्तुत किया और ग्रन्थिभेद करते हुए निर्ग्रन्थ हो जाने की कला को अनावृत्त कर दिया ।

गणधर रचित साहित्य में, 'सूत्रकृतांग' आदि आगम में, 'विशेषावश्यक भाष्य' में स्तुति-प्रार्थना के बीज विद्यमान हैं । '**सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु, तित्थयरा मे पसीयंतु**' प्रार्थना ही है ।

तीर्थंकरों की जिनवाणी की आज्ञा का मैं पालन करूं यही तो व्यवहार से तीर्थंकरों का प्रसन्न होना है । जिसकी आज्ञा मानी जाती है वह प्रसन्न होता ही है ।

कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—(१) साक्षात्कर्तृत्व, जिसमें कर्ता के मन-वचन-काया का सीधा प्रयोग हो और (२) कर्ता के योगों का सीधा व्यापार नहीं होता किन्तु उसकी दृष्टि या कृपा से कार्य हो जाता है । (प्रार्थना प्रवचन, पृ० ४४) सूर्य या वायु के साक्षात्कर्ता होने की आवश्यकता नहीं है तथापि उनका सेवन नीरोगता प्रदान करता है और सेवन न करने वाले उस लाभ से वंचित रहते हैं ।

याचना वह हेय है जो राग-द्वेष से आवेषित हों । जहां व्यवहार भाषा से याचना हो और प्रार्थी तथा प्रार्थ्य के भेद का अवकाश ही निश्चय नय की दृष्टि से न हो, ऐसी प्रार्थना स्वयं की ही प्रार्थना होती है, याचना नहीं ।

प्रार्थना का जितना स्पष्ट और हृदयहारी निरूपण गुरुदेव ने प्रस्तुत किया, वह आचार्य श्री के संगीत साधक तथा भक्त हृदय, अनन्य करुणामूर्ति होने का निदर्शन प्रस्तुत करता है ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

३. **ज्ञान का प्रकाश अभय बना देता है**—अपने स्वाधीन स्वरूप को जानना आवश्यक है। आचार्य श्री भेड़ों के बच्चों के बीच पलने वाले सिंह-शावक का दृष्टांत देकर यह स्पष्ट करते थे कि बोध करो। 'सूत्रकृतांग' की प्रथम गाथा का उद्धरण आचार्य श्री की इस दार्शनिक मान्यता का मूल था कि ज्ञान बिना नहीं भान।

बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरो ? किं वा जाणं तिउट्टइ ॥

(ग० व्या० मा० ३/७)

बंधन को जानो, बंधन को काटो। स्व-पर विवेक-ज्ञान का अभाव होने से ही मानव भोगोपभोग सामग्री के बिछोह-भय से भयभीत रहता है। आचार्य श्री ने समझाया कि जिस सामग्री में स्वभाव से ही सुख विद्यमान नहीं है वह प्राप्त हो अथवा छूट जाय, साधक इससे प्रभावित नहीं होता, भय का तो अवकाश ही नहीं। 'मेरे अन्तर भया प्रकाश, मुझे अब नहीं की आश।' ज्ञान का प्रकाश मोह का नाश करता है। मोह शब्द के मूल में 'मुह' धातु है। 'मुह' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगकर शब्द बनता है 'मूढ़'। 'मूढ़' का अर्थ है मिथ्यात्वी. अज्ञानी, मूर्ख, अविवेकी। जीव को अजीव जानना किसी और अजीव को जीव जानना मिथ्या-ज्ञान है। क्या हम इसी मिथ्या-ज्ञान में जीकर तो मोह नहीं बढ़ा रहे हैं ? मुझे शरीर से मोह है, पुत्र-परिवार, मित्र-सम्पत्ति-सत्ता से मोह है, इसका तात्पर्य है कि शरीरादि समस्त परपदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इन सबसे भिन्न हूँ यह बोध-ज्ञान मुझे नहीं है। यह मोह तभी छूटेगा जब यह ज्ञान दृढ़ हो जावे कि—'जो मेरो है सो जावे नहीं, जो जावे है सो मेरो नहीं।' वस्तु के स्वभाव को जान लेना ही ज्ञान है और इसी से अभय प्राप्त होता है। जो क्षणिक है वह तो छूटता ही है, इसमें भय कैसा ? यही अभय अहिंसा का जनक है। इसी से मोह-विजय संभव है।

४. **जो क्रियावान् है वही विद्वान् है**—आचार्य श्री का समस्त चिंतन आत्मपरक था। उनकी दार्शनिक मान्यता थी कि शुष्क तर्क के बल पर बुद्धि के प्रयोगों से सभा को विस्मित कर देने वाला विद्वान् नहीं है, शास्त्रों का वक्ता, श्रोता या पाठक विद्वान् नहीं है, शास्त्रों का संचय कर पुस्तकालय निर्माण करने वाला विद्वान् नहीं है, अनेकानेक डिग्रियों से स्वयं को मण्डित करने वाला विद्वान् नहीं है, शोध के क्षेत्र में वर्षों प्रयोगशालाओं में जीवन खपा देने वाला भी विद्वान् नहीं है, यदि इनके जीवन में स्वयं की पहचान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कराने वाले चारित्र का पालन नहीं हो, यदि ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग नहीं हो, यदि विद्वान् क्रियावान् न हो।

ज्ञान और क्रिया में अन्तर है। क्रिया के बिना प्रयोजन लाभ नहीं होता। बंधन-मुक्ति, स्वरूप-प्राप्ति सर्वप्रिय होने पर भी उसके ज्ञान मात्र से प्राप्ति नहीं होती। बिना पुरुषार्थ किये स्वतंत्रा प्राप्ति नहीं, आत्मानंद प्राप्ति नहीं, मुक्ति लाभ नहीं, बंधन-मुक्ति नहीं। चारित्र के बिना ज्ञान और दर्शन का रथ मंजिल तय नहीं कर सकता।

यह पुरुषार्थ तप और संयम पूर्वक होना चाहिये। व्रत और तप तभी कीमती हैं जब उनके पीछे संयम हो, चारित्र-पालन हो।

(ग० व्या० मा० ६/१२)

आज आधुनिक युग त्वरा का युग है। गति की गति इतनी तेज हो गई है कि आधुनिकता का पर्यायवाची ही बन गया है—त्वरा। मन-वचन और काया के व्यापार त्वरित उपकरणों की सहायता से इतने अग्रगामी हो गये हैं कि विश्व ने भौतिक क्षेत्र में तीव्र गति को पकड़ लिया है। इस त्वरा के युग में यदि आत्मा के आवरण को काटने हेतु उतनी ही तीव्रता से तप का ताप और संयम की अनिल नहीं बहेगी तो संतुलन असम्भव है। हमें गुरुदेव का सन्देश समझना होगा। विद्वत्ता में क्रिया का संयोग करना होगा।

इस अन्तरिक्ष रण के युग में, अन्तर को समता से भर लें।
त्वरित काल के विषम भाव को, तप संयम से पूत करें॥

विभाव में गति की इतनी तेजी और स्वभाव में एक कदम भी आगे नहीं बढ़े तो सन्तुलन असम्भव होगा। ज्ञान को आचरण में ढालना ही विद्वत्ता की कसौटी है।

आचार्य श्री ने अपने साधनामय सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों से हमारे समक्ष सामायिक और स्वाध्याय को जीवन उन्नत करने की कुञ्जी के रूप में प्रस्तुत किया—"जीवन उन्नत करना चाहा तो सामायिक साधन करलो।" "स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो।" यही वह क्रिया है जिसकी आचार्य श्री को विद्वानों से अपेक्षा है। स्वाध्याय से विचार-शुद्धि और सामायिक से आचार-शुद्धि होती है। साधना-रथ को साध्य तक पहुँचाने हेतु सामायिक और स्वाध्याय ये दो सबल पहिये हैं। साक्षरता और भौतिकता के अत्यधिक विकास के समय सामायिक और स्वाध्याय अधिक आवश्यक है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

५. **आत्म-शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण**—आचार्य श्री ने नित्य प्रतिक्रमण करने पर बहुत बल दिया। मरण की साधना ही जीवन का प्रयोजन होना चाहिये। गुरुदेव का दृढ़ संकल्प था कि मृत्यु महोत्सव बन जाय, राग-द्वेष की ग्रन्थि खुल जाय, समत्व की शय्या प्राप्त हो और निस्पृह भाव से प्रयाण हो इसके लिये सम्पूर्ण जीवन में संयम का अभ्यास अपेक्षित है। जीवन-पर्यन्त साधना का विलक्षण साधन है प्रतिक्रमण के माध्यम से आलोचना। आलोचना और प्रतिक्रमण आत्मा का स्नान है। बहुत से लोग कहा करते हैं कि गलती करते जाते हैं फिर प्रतिक्रमण क्यों करना ? झूठ, हिंसा आदि छोड़ा नहीं, केवल 'मिच्छामिदुक्कड़ं' कर गये। कल फिर ऐसा ही करना है तो प्रतिक्रमण का क्या लाभ ? मैं उन भाइयों से कहता हूँ कि नहाने के बाद मैल आना निश्चित है फिर रोज क्यों नहाते हैं ? कमरे में झाड़ू रोज लगता है, क्यों ? इसीलिए कि अधिक जमाव न हो।

क्या यह सोच लें कि मरने के समय जब संथारा करेंगे तब सब साफ कर लेंगे ? ऐसा सोचकर ५०–६० वर्ष तक गलतियों को यूं ही दबाये रखेंगे तो वे गलतियाँ परेशान करेंगी। तन की तरह मन और आत्मा की शुद्धि भी आवश्यक है। इस शुद्धि के लिए भगवान् महावीर ने दुनिया को प्रतिक्रमण करने का आदेश दिया।

(गजेन्द्र व्याख्यान माला भाग ६, पृ० ६-७)

प्रतिक्रमण का अर्थ है पीछे हटना अर्थात् दोषों से हटकर आत्मा को मूल स्थिति में ले आना। (वही पृ० ५) कपड़े पर धूलि लग जाय उसे कपड़े पर रखना नहीं है। प्रतिक्रमण साधन है जाति-स्मरण ज्ञान का। अपना पूर्व भव दिखा देने की अद्भुत कला भगवान् महावीर के पास थी। साधक के वैराग्य की पुष्टि होती है जब वह पीछे लौटकर यह देख लेता है कि सत्ता-सम्पत्ति-सुख सभी नश्वर थे, चिरस्थायी तो आत्मा की मूल स्थिति है। इसीलिये गुरुदेव ने प्रातः-संध्या प्रतिक्रमण करने पर बल दिया।

जीवन जीने की शैली ही जब तक साधनामय नहीं हो जायेगी तब तक अन्त समय मृत्यु उपस्थित होने पर संथारा साधना कल्पना मात्र ही है। जैन दर्शन की विलक्षण देन संथारा-समाधिमरण का जीवन्त निदर्शन आचार्य श्री थे। आपने अप्रमत्त संयमी जीवन के अन्तिम क्षणों की अनुपम समाधि साधना से अलौकिक दिव्य मरण का आदर्श प्रस्तुत किया। आचार्य श्री जैसे श्रमण श्रेष्ठों को लक्ष्य कर ही कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

समसत्तुबंधुवग्गो, समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
सम लोट्ठकंचणो पुण, **जीविद मरणे समो समणो ॥**

समत्व ही धर्म है और समत्व की साधना करने वाला ही धार्मिक । यह थी आचार्य श्री की दार्शनिक मान्यता ।

६. **परिग्रह उपकरण बने अधिकरण नहीं** – अपरिग्रही मोह विजय कर आत्म-लाभ करता है इस उद्देश्य से आचार्य श्री ने अपरिग्रही बनने हेतु सार्थक सन्देश प्रदान किया । अपरिग्रह की जैसी व्याख्या आचार्य श्री ने प्रस्तुत की वह आगम-सम्मत तत्त्व-निरूपण की अनूठी शैली का निदर्शन है ।

भगवान् महावीर ने परिग्रह को बंध का कारण कहा अतः न तो परिग्रह करना चाहिये और न ही करने वाले का अनुमोदन करना चाहिये । अन्यथा दुःख मुक्ति सम्भव नहीं । आचार्य श्री 'सूत्रकृतांग' की साक्षी प्रस्तुत करते हैं—

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किं साम वि ।
अण्णं वा अणु जाणाइ, एवं दुक्खा न मुच्चइ ।।

विचारणीय है कि मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति को परिग्रह कहा गया है । प्रस्तुत उद्धरण में मूर्च्छा-परिग्रह न करने तथा करते हुए का अनुमोदन नहीं करने का उपदेश है, यह उचित ही है क्योंकि अन्य को पदार्थ दिये जा सकते हैं पर मूर्च्छा नहीं दी जा सकती । मूर्च्छा तो स्वयं ही कोई करता है या मूर्च्छित परिग्रही का अनुमोदन कर सकता है । परिग्रह के दो योग ही कहना इसीलिये सार्थक प्रतीत होता है ।

आचार्य श्री ने स्पष्ट कहा कि आरम्भ और परिग्रह को जाने बिना धर्म-श्रवण लाभ भी नहीं होता । परिग्रह आत्मा को जकड़ने वाला है । 'सूत्रकृतांग' में परिग्रह के सचित्त, अचित्त और मिश्र त्रिविध भेद किये हैं तथा 'स्थानांग' में कर्म-परिग्रह, शरीर-परिग्रह और भाण्डोपकरण परिग्रह यह त्रिविध विभाजन है । आचार्य श्री ने स्पष्ट किया कि परिग्रह-उपधि या उपकरण भी होते हैं यदि परिग्रह साधना हेतु उपयोगी बन जाय । जो सामग्री या साधन काम में लिए जाते हैं, संग्रह नहीं किए जाते वे अपरिग्रह ही हो जाते हैं क्योंकि वे उपकरण बन जाते हैं । आचार्य श्री का उद्घोष था कि परिग्रह उपकरण बने, अधिकरण नहीं । अधिकरण बंध का कारण होता है, शुभ कार्य में उपयोगी उपधि-उपकरण बन्ध कारण नहीं, इसीलिए साधु १४ उपकरण रखने पर भी अपरिग्रही होते हैं ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कितना मार्मिक विश्लेषण किया है आचार्य श्री ने—मूर्च्छा हटी तो बेड़ी कटी । जो धन तुमने जुटाया है उसे यह समझो कि वह मेरी निश्रा में है । वस्तु मेरी नहीं, मेरी निश्रा में है, यह कहने, सोचने, समझने से ममत्व विसर्जन होता है । जहां ममत्व नहीं, वहां दुःख नहीं ।

संचय से लवणाम्बुज का अथाह जल भी अनुपयोगी और खारा हो जाता है, संचित लक्ष्मी भी स्वामी के कलंक का कारण बन जाती है । आचार्य श्री ने कितना सुन्दर कहा—'धन-सम्पत्ति के गुलाम मत बनो, सम्पत्ति के स्वामी बनो । संचित सम्पत्ति की सुरक्षा में चिंतित स्वामी सचमुच उस सम्पत्ति का दास है और ममत्व हटाकर सम्पत्ति का शुभोपयोग में विसर्जन करने वाला ही सम्पत्ति का स्वामी ।'

सम्पत्ति के सदुपयोग से सेवा का अमृत फल भी उपलब्ध होता है । सेवा के क्षेत्र का जितना-जितना विस्तार होता है, राग-द्वेष विजय होती है । प्राणिमात्र के प्रति करुणा विसर्जित होना ही तो वीतरागी होना है क्योंकि सेवा के विस्तार से राग पतला होकर टूट जाता है । राग का घेरा टूटा और वीतरागता प्रकट हुई ।

परिग्रह को उपकरण बना कर ही यह सम्भव है, अधिकरण मान कर नहीं ।

७. **अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण सम्भव**—आचार्य श्री का सम्पूर्ण जीवन अप्रमत्त भाव में रहने की सीख देता है । 'समयं गोयम मा पमायए' का संदेश आचार्य श्री के जीवन में पैठ गया था । आचार्य श्री अप्रमत्त रह कर ही धर्माचरण को सम्भव मानते थे । समय का दुरुपयोग आपके लिये हिंसा के समान त्याज्य था । मौन-साधना में रत, काल की सूक्ष्मतम इकाई समय भर भी प्रमाद न करने में कुशल, जीवन की हर क्रिया को धर्म-सूत्र में पिरोकर बहुमूल्य बनाने में सिद्धहस्त आचार्य श्री की यह मान्यता थी कि गृहस्थ संसारी के अर्थ और काम पुरुषार्थ यदि धर्म-सम्मत हों तभी वह श्रावक की भूमिका का निर्वाह कर सकता है । नीति पूर्वक अर्जन श्रावक के लिये परम आवश्यक है । असंयम को रोक कर ही धर्म सम्भव है । अपने जीवनकाल में आचार्य श्री ने सैकड़ों मनुष्यों को संयम-पथ पर अग्रसर किया । सामूहिक चेतना में संयम फूंकने वाले साधक को कोटिशः वन्दन ।

साधना हेतु दुःख सहन का अभ्यास आवश्यक—

'आयावयाही चय सोग मल्लं । कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।।'

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

शरीर की कोमलता को ऐसे साधो कि किसी भी परिस्थिति में वह प्रसन्न रहे । मन चंचल न बने इसका अभ्यास करने पर ही अप्रमत्त सामायिक सधती है । दुष्कृत निन्दा और सुकृत अनुमोदना से अभ्यास पूर्वक अप्रमत्त भाव का विकास करना चाहिये ।

अप्रमत्त दशा के विकास हेतु श्रोता को चाहिये कि वह अपने अनुकूल वस्तु को पकड़ने का दृष्टिकोण त्याग कर श्रवण लाभ करे ।

८. **कुटेवों को बदलना आवश्यक**—'प्रार्थना प्रवचन' पृ० ७३ के अनुसार आचार्य श्री की मान्यता रही कि बीतरागता प्राप्त करने के लिये जीवन में पैठी हुई कुटेवों को बदलना आवश्यक है । साथ ही अंध-विश्वासों से ऊपर उठना भी आवश्यक है । आचार्य श्री ने जन-जागरण की दिशा में **व्यसन-मुक्ति और अंध-विश्वास मुक्ति** का जो शंखनाद फूंका उससे हजारों की संख्या में मानवों का जीवन-सुधार हुआ । करोड़ों की राशि व्यय करके अनेक वर्षों के अनवरत प्रयास से सरकार भी जितनी लक्ष्य-पूर्ति इस क्षेत्र में नहीं कर पाई होगी जितनी आचार्य श्री जैसे दिव्य व्यक्तित्व ने अपने जीवन-काल में हजारों व्यक्तियों को व्यसन-मुक्त किया तथा देवी-देवताओं और अरिहंत के स्वरूप की व्याख्या कर मनौतियों, ठण्डा भोजन-प्रयोग, बलि चढ़ाना, कायक्लेश के आडम्बर करना आदि अंध-विश्वासों से जन-मानस को मुक्त कराया । देवी-देवताओं और पर्वों के धार्मिक स्वरूप की कल्पना प्रस्तुत कर जन-जागरण किया और कहा कि रूढ़ि और कुरीति में मत उलझो । आचार्य श्री जन-समुदाय को छोटे-छोटे व्रतों की दीक्षा देते और उन व्रतों को दृढ़तापूर्वक आजीवन पालन करने की सीख देते थे । व्रत-पालन में दोष उपस्थित होने पर प्रायश्चित्त का विधान भी बताते थे । प्रायश्चित्त विधान-ज्ञान में आचार्य श्री सिद्धहस्त माने जाते थे ।

छोटे-छोटे व्रतों के माध्यम से पाँच इन्द्रिय विजय, चार कषाय विजय आदि के पालन की प्रेरणा करते थे । जीवन में पैठी हुई एक भी कुटेव साधना में बाधक है अतः उसे बदलना आवश्यक है । आचार्य श्री की प्रेरणा से जितनी भी संस्थाएँ आज सेवारत हैं चाहें वे बालकों को संस्कारित करने में प्रयासरत हों, चाहे युवकों में स्वाध्याय प्रवृत्ति प्रचाररत हों, चाहे प्रौढ़ों की साधना के मार्ग-दर्शन में रत हों, चाहे महिलाओं के सर्वांगीण विकास हेतु तत्पर हों, सभी संस्थाओं के संचालकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सप्तव्यसन मुक्त हों । आचार्य श्री की दीर्घ दृष्टि राष्ट्रीय विकास के नये आयाम प्रस्तुत करने में बहुत सहायक बनी है । इस दृष्टि से जीवनपर्यन्त साधना संघर्षरत गुरुदेव राष्ट्रीय सन्त की सरणि में आ बिराजे हैं ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

६. **धर्म मार्ग की सीख पण्डितों को दें**—आचार्य श्री की पुष्ट मान्यता थी कि यदि पण्डितों को सन्मार्ग और धर्म मार्ग की सीख दी जाय तो उनके अनुगामी स्वतः ही परिवर्तित हो जायेंगे। भगवान् महावीर का आदर्श प्रस्तुत कर आचार्य श्री ने कहा कि भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति आदि पण्डित नेताओं को अहिंसा का उपदेश दिया, उनके अनुगामी जन-समूह ने तो अनुकरण मात्र किया और महावीर के अनुयायी बन गये।

अन्त में निष्कर्ष यही है कि आचार्य श्री के उपदेश 'परोपदेशे-पाण्डित्यम्' के हेतु नहीं हैं वरन् आप श्री ने स्वयं समभाव में स्थित होकर मोह और क्षोभ से रहित आत्म-परिणाम में रमण कर समभाव रूप सामायिक और चारित्र धर्म का उपदेश दिया। वही उपदेश आज स्वाध्याय का साधन बन गया।

—निदेशिका, क्षेत्रीय केन्द्र, कोटा खुला विश्वविद्यालय, उदयपुर

□ □ □

अमृत-कण

- सम्यक् चारित्र के दो रूप हैं—संयम और तप। संयम नवीन कर्मों के आस्रव-बंध को रोकता है और तप पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों की अनिवार्य आवश्यता है।
- हमें शरीर बदलने का दुःख नहीं होना चाहिए। दुःख इस बात पर होना चाहिए कि ज्ञान गुण घट गया, श्रद्धा घट गई।
- हमारे आत्म-गुणों को हीरा, स्वर्ण, भूमि आदि नहीं ढकते। मोह और आसक्ति ही आत्म-गुणों को ढकते हैं।

—आचार्य श्री हस्ती

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org